

विद्यालयी पाठ्यपुस्तकें उत्कृष्टता से बेतुकेपन की ओर

दिशा नवानी

महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (Maharashtra State Board of Secondary and Higher Secondary Education & MSBHSE) की कक्षा 12 की समाज शास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में कई सामाजिक प्रथाओं, रीतियों एवं परम्पराओं पर जिस प्रकार लिखा गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि उपरोक्त पाठ्य पुस्तक इन सामाजिक प्रक्रियाओं के पिछड़ेपन वाले पहलुओं पर चिंतन को प्रोत्साहित करने की बजाए इनकी वैधता को स्थापित कर रही है।

फरवरी माह के शुरुआत में महाराष्ट्र राज्य माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की कक्षा 12 की समाज शास्त्र की पाठ्य पुस्तकों में बालिका की “बदसूरती” को “दहेज की मांग” से जोड़ने वाला एक वाक्य समाचारों की सुर्खी में रहा. यह किताब महाराष्ट्र राज्य पाठ्यपुस्तक उत्पादन व पाठ्यचर्या अनुसंधान ब्यूरो (Maharashtra State Bureau of Text book Production and Curriculum Research) द्वारा बनाई और वितरित की गई थी।

छः लेखकों द्वारा लिखी गई इस किताब में “बदसूरती” को दहेज का बारहवां कारण माना गया। इसके अनुसार “यदि बालिका बदसूरत या अपंग है तब उसकी शादी करना काफी मुश्किल है। व ऐसी लड़कियों से शादी करने के लिए दूल्हा व उसका परिवार ज्यादा दहेज मांगते हैं। ऐसी लड़की के माता-पिता लाचार होकर दूल्हे के परिवार द्वारा मांगा गया दहेज देने के लिए विवश हो जाते हैं (पृ. 78)।” इस किताब में दहेज के जो अन्य कारण सूची में दिए गए हैं, वो भी इतने ही विवेकहीन और बेतुके हैं, जैसे कि-

एक सुयोग्य वर की अपेक्षा (जैसे कि अपनी बेटी के लिए वर ढूंढते समय माता-पिता यह उम्मीद करते हैं कि वर सुशिक्षित हो, उनके स्तर का हो, अच्छा कमाने वाला हो तथा अच्छे संस्कारों वाला हो। साथ ही, वे यह भी उम्मीद करते हैं कि लड़की का ससुराल पक्ष अच्छे खासे स्तर का हो, ताकि उनकी बेटी शादी के बाद खुशहाल जीवन जी सके। और यह सब हासिल करने के लिए वे शादी के समय ज्यादा पैसे खर्चने को भी तैयार हो जाते हैं); क्षतिपूर्ति का सिद्धांत (इसके अंतर्गत दूल्हे के माता-पिता विवाह के समय ज्यादा दहेज मांगते हैं ताकि उनकी बेटी के विवाह के समय जो दहेज उन्होंने दिया है उसकी क्षतिपूर्ति की जा सके। सामाजिक प्रतिष्ठा तथा नई गृहस्थी में मदद जैसे कारण भी इस सूची में शामिल हैं (MSBHSE 2016)।

पाठ्यपुस्तक में दहेज की प्रथा के बारे में जिस प्रकार से लिखा गया है उससे यह पुस्तक इस प्रथा के भेदभाव पूर्ण एवं पिछड़े सामाजिक चरित्र पर विचार को प्रोत्साहन देने के बजाय, एक प्रकार से दहेज को न्यायोचित ठहराती प्रतीत होती है।

पाठ्यपुस्तक में कई अन्य जगहों पर भी विभिन्न सामाजिक संकल्पनाओं का अध्ययन करते समय, लेखकों द्वारा प्रस्तुत किए गए इसी प्रकार के अभूतपूर्व एवं बेतुके समाजशास्त्रीय विश्लेषण देखने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ- “बेहतर सामाजिक हैसियत वाली महिलाएं कम बच्चे पैदा करना चाहती हैं, क्योंकि वे मानती हैं कि ज्यादा बच्चे होना करियर के विकास में बाधक बनता है” (पृ. 69)। “महिलाओं के सामाजिक स्तर में सुधार” संबंधी यह बिन्दु जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने के कारक के रूप में सूचीबद्ध किया गया। यह खंड यह दावा भी करता है कि-

कई लोगों विशेषकर ग्रामीण व आदिवासी लोगों के पास पर्याप्त मनोरंजन सुविधाएं उपलब्ध नहीं होती हैं। उनके पास दिल बहलाने का एक मात्र साधन यौन क्रियाओं में लिप्त रहना ही होता है। और यह लोग ऐसा बिना परिणाम के बारे में सोचे करते हैं। यदि इन लोगों को मनोरंजन के अन्य साधन उपलब्ध कराए जाएं तो जन्म लेने वाले बच्चों की संख्या में निश्चित रूप से कमी आएगी (पृ. 69-70)।

पाठ्यपुस्तक में एक अन्य जगह “कामकाजी महिलाओं की समस्याएं” शीर्षक के अंतर्गत यह स्थापित किया गया है कि “परिवार में तनाव” निश्चित रूप से कामकाजी महिलाओं की एक समस्या है क्योंकि - “यदि पत्नी भी ज्यादा महत्वाकांक्षी हो, तो वह अपनी तरक्की पर ज्यादा ध्यान देगी व पदोन्नति के लिए ज्यादा प्रयास करेगी, इस स्थिति में वह अपने घर के प्रति लापरवाह हो जाएगी, तथा इस वजह से उसका पति क्रोधित होगा। यदि दोनों पति-पत्नी नौकरी में हों, तो बच्चे उपेक्षा का शिकार होंगे और परिणामस्वरूप बच्चे बिगड़ जाएंगे, और इसके लिए अभिभावक एक-दूसरे को दोष देंगे। कई कामकाजी महिलाएं अपने पतियों व सास-ससुर का ध्यान रखने में भी असमर्थ होती हैं। और इसके परिणामस्वरूप उनके पति गुस्से में रहते हैं (पृ.75)। इस खंड का सम्पूर्ण लेखन, उसकी विषयवस्तु और दिशा निश्चित रूप से यह स्थापित करने की कोशिश करते हैं कि कैसे कामकाजी महिलाओं का जीवन घर के बाहर काम करने की वजह से बर्बाद हो जाता है। इन समस्याओं (दोहरी भूमिका निभाने का तनाव, आर्थिक शोषण, अन्याय-उत्पीड़न तथा अलगाव, इत्यादि) का विवरण कामकाजी महिलाओं के समक्ष चुनौतियों की बजाय उनके कामकाजी होने के परिणाम के रूप में किया गया है।

यह बात पूरे भरोसे के साथ कही जा सकती है कि यदि कोई व्यक्ति इस पाठ्यपुस्तक का कोई भी पृष्ठ खोलेगा तो उसे इसी प्रकार की कई जानकारियां मिलेंगी। उदाहरण के लिए यह बात कि - “एक सामाजिक समस्या व्यक्तिगत समस्या से भिन्न होती है। एक ऐसी समस्या जिसका सामना एक व्यक्ति या उसका परिवार करता है, उसे व्यक्तिगत समस्या माना जाता है। जबकि एक ऐसी समस्या जिसका सामना कई लोग करते हैं, सामाजिक समस्या कहलाएगी जैसे कि अगर एक व्यक्ति के पास रोजगार नहीं है, तो यह उसकी निजी समस्या है” (पृ. 62)। लेकिन वैश्यावृत्ति को इस किताब में एक सामाजिक समस्या माना गया है, क्योंकि इस किताब के अनुसार- “कई गरीब महिलाओं के लिए वैश्यावृत्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम है, वहीं कुछ महिलाएं इसे विलासिता पूर्ण जीवन जीने के लिए भी इस्तेमाल करती हैं, तथा कुछ महिलाएं असामाजिक संगठित अपराधियों व दलालों के दबाव में यह पेशा अपनाती हैं। शहर में अकेले रहने वाले कई पुरुष वैश्याओं के पास यौन संतुष्टि प्राप्त करने के लिए जाते हैं तो कुछ यौन सुख में विविधता लाने के लिए भी जाते हैं” (पृ. 33)। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए बेरोजगारी, गरीबी, खाद्यापूर्ति की मांग में वृद्धि व पर्यावरणीय गिरावट इत्यादि को जनसंख्या वृद्धि के परिणाम के रूप में सूचीबद्ध किया गया है। हर पाठ के अंत में दिए गए प्रश्न भी पाठ की विषयवस्तु की तरह ही बेतुके हैं, जैसे- “सामाजिक समस्याएं (व्यक्तिगत, स्थानीय, प्रादेशिक, सार्वभौमिक) होती हैं..., सामाजिक समस्याएं। (रीतियों, मूल्यों, चिह्नों, प्रतीकों, आस्थाओं आदि से) असंगत होती हैं...।” कोई भी यह सोच सकता है कि जिन कुछ समस्याओं से यह पुस्तक ग्रसित है उनमें से एक है, सामाजिक घटनाओं का अतिसरलीकृत विश्लेषण करना, उनके बारे में निर्णय देना और उन्हें खारिज कर देना। और यह बहुत ही स्पष्ट है इसलिए गंभीर चिंता का विषय भी है।

महाराष्ट्र बोर्ड द्वारा स्वयं की किताबें छापने का निर्णय 2008 में लिया गया था। उन्होंने कक्षा 11 की विज्ञान व वाणिज्य की पाठ्यपुस्तक छापने का निर्णय 2011-12 में लिया व भाषा व सामाजिक विज्ञान की पुस्तकें छापने का निर्णय

2012-13 में लिया। बाद में जब “अध्यापकों व विद्यार्थियों द्वारा इन पाठ्यपुस्तकों की काफी सराहना की गई और वे लोग इन पुस्तकों की सामग्री व प्रस्तुतिकरण से काफी प्रभावित हुए”, तब बोर्ड द्वारा कक्षा 12 के लिए भी विभिन्न पाठ्यपुस्तकों का निर्माण शुरू कर दिया गया। इन किताबों की विशेषज्ञों द्वारा समीक्षा की गई है (प्राक्कथन)। यहां यह गलतफहमी ना पाल लें कि इस लेख का उद्देश्य सिर्फ उक्त अकेली पाठ्यपुस्तक की भर्त्सना करना मात्र है, बल्कि इस बात की काफी संभावनाएं हैं कि ऐसी कई पाठ्यपुस्तकें उपयोग में आ रही होंगी जो उस सामाजिक हकीकत के प्रति जिसमें कि लोग जीवन यापन कर रहे हैं एक विकृत और पक्षपात पूर्ण नजरिए को बेशर्मी के साथ बढ़ावा देती होंगी। इस किताब के उदाहरणों को यहां सिर्फ इसलिए उजागर किया जा रहा है, क्योंकि यह मीडिया का ध्यान आकर्षित करने के कारण चर्चा में है। राज्य व निजी इकाइयों द्वारा लिखी कई ऐसी किताबें हैं, जो सभी राज्यों में दसियों लाख विद्यार्थियों द्वारा पढ़ी जाती हैं और जो विश्लेषित की जा रही पाठ्यपुस्तक के समान ही समाज का तोड़ा-मरोड़ा रूप प्रस्तुत करके विद्यार्थियों के ज्ञान की संरचना में दखल दे रही होंगी, लेकिन उन पर किसी का ध्यान अभी तक नहीं गया है। उदाहरणार्थ, कक्षा 9 की अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक (गोयल 2017), जिसमें “महिलाओं के प्रति सामाजिक भेदभाव” के अंतर्गत कहा गया है कि “जब महिलाएं ज्यादा धन कमाती हैं तो अक्सर यह देखा गया है कि वे इसे बच्चों की शिक्षा व स्वास्थ्य पर खर्च करती हैं, जबकि इसके विपरीत पुरुष अपनी ज्यादा कमाई को शराब, तम्बाकू, व अन्य महिलाओं आदि पर खर्च करते हैं (पृ. 131)”।

विद्यालयी व्यवस्था में पाठ्यपुस्तकें

भारत में पाठ्यपुस्तकें अक्सर ही विद्यालय परीक्षा बोर्ड द्वारा निर्धारित की जाती हैं, इसलिए ये एक तरह से पाठ्यक्रम, पाठ्यचर्या का प्रतिनिधित्व करती हैं, और एक ऐसे कैप्सूल के रूप में हमारे सामने उभर कर आती हैं जिसके भीतर ही सारी स्कूली शिक्षा सीमित हो जाती है। पाठ्यपुस्तकें न केवल कक्षा-कक्षा की शैक्षिक प्रक्रियाओं तथा सबसे पवित्र किन्तु खतरनाक परीक्षा पत्रों तक में अपनी सर्वोच्च हैसियत हासिल कर लेती हैं बल्कि शिक्षकों और छात्रों के जीवन पर भी बुरी तरह से हावी हो जाती हैं। यह सीखने-सिखाने के तरीकों को इस हद तक नियंत्रित करने लगती हैं कि उनमें लिखा हर शब्द बेहद महत्वपूर्ण हो जाता है व उसे हर हाल में याद रखना और जस का तस लिखा जाना (खास तौर से परीक्षा में) बहुत जरूरी हो जाता है। अधिकांश अध्यापक-शिक्षा कार्यक्रमों का भी प्रयास होता है कि वे अध्यापकों को कक्षा अनुरूप पाठ्यपुस्तकें पढ़ाने में समर्थ बना सकें।

पाठ्यपुस्तकों का विकास

स्वतंत्र भारत में पाठ्यपुस्तकों का विकास एक जटिल प्रक्रिया रही है जिसमें कई संस्थाएं शामिल रही हैं और इस काम को करना किसी एक सरकारी संस्था की जिम्मेदारी नहीं रही। किताबों का राष्ट्रीयकरण 1941-42 में उत्तरप्रदेश में शुरू हुआ, परन्तु 1961 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एनसीईआरटी) के गठन के बाद ही पाठ्यपुस्तक विकास के कार्य ने रफ्तार पकड़ी। इस संस्था को विद्यालयी व्यवस्था के संपूर्ण कार्यकाल के लिए भाषा, सामाजिक विज्ञान, प्राकृतिक विज्ञान व गणित विषयों हेतु मॉडल पाठ्यपुस्तकें विकसित करने की जिम्मेदारी दी गई थी। जल्द ही इसने पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के लिए विस्तृत आधार विकसित करने शुरू कर दिए। पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के ये आधार मुख्य रूप से उनके भौतिक व शैक्षिक पहलुओं पर समीक्षा हेतु बनाए गए थे। राष्ट्रीय एकता को अपनी पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से बढ़ावा देना तथा छुआछूत, नस्लवाद, जातिवाद, सांप्रदायिकता फैलाने वाली प्रक्रियाओं को पहचान कर, उन्हें समाप्त करना भी एनसीईआरटी का महत्वपूर्ण कार्य है। इसके अलावा यह संस्था राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा भी बनाती रही है, पाठ्यचर्या की रूपरेखा आखिरी बार 2005 में बनी थी। हालांकि पाठ्यचर्या की रूपरेखा पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा के लिए कोई स्पष्ट आधार नहीं देती, लेकिन इसमें आधारभूत संकल्पनाओं को सूचीबद्ध किया गया है, जिनकी मदद से शिक्षण सामग्री की समीक्षा करने के आधार तय किए जा सकते हैं। यह संकल्पनाएं उस समाज की कल्पना से वास्ता रखती हैं जिसमें हम रहना चाहेंगे साथ ही इनका संबंध उस आदर्श समाज की प्राप्ति हेतु शिक्षा की भूमिका, सीखने की संकल्पना, बच्चे व उनके संदर्भ से भी है (नवानी 2010)।

शिक्षा आयोग द्वारा (1964-66) में उन तत्वों की तरफ ध्यान आकर्षित किया गया जिनके कारण पाठ्यपुस्तक निर्माण के कार्य पर ध्यान दिया जाना जरूरी था। इन कारणों में प्रबुद्ध वर्ग की इस कार्य के प्रति अरुची, अनैतिक/गैर-जिम्मेदार प्रकाशक, अत्यंत महंगी किताबें, किताबों के चयन और निर्धारण में अनियमितता इत्यादि शामिल थे। तब कई राज्य सरकारों द्वारा पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन प्रारंभ किया गया। तत्पश्चात कई राज्यों ने संवैधानिक ढांचे के अंतर्गत कई ऐसी संस्थाएं बनाई हैं, जिनका काम पाठ्यक्रम व पाठ्यपुस्तकें तैयार करना है। तथा सभी प्रदेशों ने पाठ्य सामग्री बनाने एवं उसे मान्यता देने के विभिन्न तंत्र विकसित किए हैं। लेकिन इन तंत्रों का यांत्रिक रूप से पालन किया जाता है और राष्ट्रीय शिक्षा नीति (NPE) 1986 में पाठ्यचर्या के संबंध में बताई गई मुख्य चिंताओं को वास्तविक रूप से संबोधित नहीं किया जाता। पाठ्यपुस्तकें शिक्षा नीति के उद्देश्यों को पूरा करती हैं या नहीं इसका आकलन करने के लिए कोई ठोस तरीका उपलब्ध नहीं है। साथ ही पाठ्यपुस्तकों के लिए सामग्री के चयन में भी अधिक सोच व समझ नहीं लगाई जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पाठ्यपुस्तकों तथा पूरक सामग्री की विषयवस्तु पर अधिक ध्यान न देते हुए पुस्तक के स्वरूप पर भारी जोर दिया जाता है। (कैब 2005)

एनसीईआरटी द्वारा निर्मित तथा अन्य सरकारी निकायों द्वारा निर्मित पाठ्यपुस्तकों की गुणवत्ता में काफी अंतर पाया जाता है। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि एनसीईआरटी द्वारा निर्मित पाठ्यपुस्तकें बाकी निकायों द्वारा निर्मित पुस्तकों से सदैव बेहतर होती हैं। एनसीईआरटी के पाठ्यपुस्तक विकास समूह में देश भर के संस्थानों, प्रादेशिक शिक्षा संस्थानों एवं राज्य तथा केन्द्रीय विश्वविद्यालयों से सदस्यों को लिया जाता है।

दुर्भाग्य से अधिकतर राज्यों के संस्थानों के पास न तो ऐसी क्षमताएं हैं कि वे ऐसी विश्लेषणात्मक पाठ्यपुस्तकें विकसित कर सकें जो शैक्षिक तौर पर तथा संकल्पनात्मक रूप से मजबूत हों, और न ही उनके पास ऐसी कोई स्थापित प्रक्रियाएं मौजूद हैं जिनके द्वारा पुस्तकों की गुणवत्ता की निगरानी की जा सके। इसलिए अक्सर कई राज्य एनसीईआरटी की किताबों को ही थोड़ा रूपांतरित करके या आदर्श मान कर अपनी किताबें बना लेते हैं। जबकि एनसीईआरटी द्वारा विकसित किताबें केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा संचालित स्कूलों में उपयोग में ली जाती हैं व राज्यों द्वारा विकसित पाठ्यपुस्तकों का उपयोग राज्य बोर्ड से सम्बंधित स्कूलों में होता है। कुछ राज्य एनसीईआरटी द्वारा विकसित पाठ्यपुस्तकें ज्यों की त्यों अपनाने से बच रहे हैं। उन्होंने अपने लिए पाठ्यचर्या की रूपरेखा भी विकसित की है और अपने सामाजिक, सांस्कृतिक संदर्भों के आधार पर पाठ्यपुस्तकें भी बनाई हैं (लेकिन इन पर एनसीईआरटी की गहरी छाप स्पष्ट रूप से दिखती है) जो उनके बच्चों के लिए अधिक उपयुक्त है (दीवान एवं दिवेदी 2016)।

सरकारी संस्थानों के अलावा बड़ी तादाद में निजी व्यवसायी भी पाठ्यपुस्तकें, शिक्षकों के लिए पुस्तिकाएं, प्रश्न बैंक तथा गाइडें उत्पादित कर रहे हैं। निजी प्रकाशकों द्वारा निर्मित किताबों को मंजूरी या मान्यता प्रदान करने का ढांचा बहुत कम राज्यों में मौजूद है। यह किताबें सरकारी पाठ्यपुस्तकों की पूरक के रूप में या उनकी जगह प्रयोग की जाती हैं या फिर इनका प्रयोग ऐसे विषय पढ़ाने के लिए किया जाता है जिनके लिए सरकारी पाठ्यपुस्तक उपलब्ध नहीं हैं- जैसे कि नीतिशास्त्र। इसी प्रकार जो स्कूल धार्मिक तथा सामाजिक संस्थानों द्वारा चलाये जाते हैं, या फिर ऐसे स्कूल जिन्हें सरकार से अनुदान प्राप्त नहीं होता, उन सब पर भी सरकार द्वारा या राज्य की संस्थाओं द्वारा निगरानी रखने की कोई व्यवस्था नहीं है। इनमें से कुछ स्कूल तो प्रत्यक्ष रूप से ऐसी विचारधाराओं को बढ़ावा दे रहे होते हैं जो कि हमारे संविधान के मूल सिद्धांतों, उसकी परिकल्पनाओं तथा शिक्षा नीतियों के विरुद्ध है (दीवान एवं दिवेदी 2016)।

पूर्व औपनिवेशिक कालीन भारत में पाठ्यपुस्तकों का आकलन किन्हीं सैद्धांतिक ढांचों के आधार पर किया जाना जरूरी नहीं था। किन्तु पाठ्यपुस्तकें लिखने से संबंधित स्पष्ट सिद्धांत अवश्य मौजूद थे। लेकिन अंग्रेजों के शासनकाल के दौरान पाठ्यपुस्तक चुनने, निर्धारित करने, उसमें सुधार करने व उसका आकलन आदि करने की आधारभूत व्यवस्थाओं का विकास हुआ (गोयल एवं शर्मा 1984)। सन 1877 में पाठ्यपुस्तक समिति का गठन इस दिशा में उस समय का एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था। इससे पहले अलग-अलग पाठ्यपुस्तक कमेटियां प्रान्तों में हुआ करती थीं, जिनका कार्य निजी प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पाठ्यपुस्तकों में से सरकारी स्कूलों व सरकार द्वारा अनुदान प्राप्त

निजी स्कूलों के लिए पाठ्यपुस्तकों का चयन करना होता था। प्रान्तों में उपलब्ध विभिन्न विषयों की पाठ्यपुस्तकों के स्तर को पूरी तरह से जाचने का कार्य पहली बार पाठ्यपुस्तक समिति ने ही किया (गोयल व शर्मा 1984 : 82)। प्रान्तीय भिन्नताओं के मध्य में किसी प्रकार की एकरूपता लाने का यह प्रयास इस विषय के प्रति चिंता का परिलक्षण था। वर्तमान में हमारे यहां फिलहाल ऐसे कोई निकाय राज्य या राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध नहीं हैं।

पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु

कई अध्ययनों एवं समितियों ने यह दर्शाया है कि भारत में पाठ्यपुस्तकों पर अक्सर ढेर सारा ज्ञान (जानकारी पढ़ें) बच्चों तक पहुंचाने का बोझ है, जिसके चलते पाठ्यपुस्तकें अक्सर गड़बड़ एवं समझने में मुश्किल हो जाती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पाठ्यक्रम की मांग के अनुसार पाठ्यपुस्तकों में शब्दों व पृष्ठों की तय संख्या (अधिकतर सीमित) में जानकारी दी जाती है। ये पुस्तकें कभी कभार ही ज्ञान के स्रोतों के रूप में लिखी जाती हैं, इसके विपरीत आम तौर पर इनमें एक रौबीला लहजा होता है, वे अक्सर नैतिक शिक्षा वाला रुख लिए हुए होती हैं और इन पर कुछ सवाल खड़े किए जाने की संभावना बिल्कुल न के बराबर होती है। इन किताबों में प्रयोग की गई भाषा अक्सर अति संक्षिप्त, बोझिल, बिना किसी हास्य के पुट के, तथा बच्चों की बोल-चाल की भाषा से अलग होती है। ज्यादातर सामाजिक विज्ञान तथा भाषा की पुस्तकें दुनिया की एक पक्षीय तस्वीर प्रस्तुत करती हैं जिसमें पुरुष वर्ग की, माध्यम वर्ग की, उच्च जातियों की तथा शहरी लोगों की उपलब्धियों को अधिक उजागर किया गया होता है। महिलाओं की, श्रमिक वर्ग की, दलितों की तथा आदिवासियों व अल्पसंख्यकों की आवाज व उनका दृष्टिकोण इन किताबों में या तो होता ही नहीं है, या अगर हुआ भी तो वह उपहास करने वाला या मौजूदा सामाजिक असमानता का समर्थन करने वाला होता है।

बेहतर पाठ्यपुस्तकें सुनिश्चित करना

कई नीति दस्तावेजों ने, पाठ्यपुस्तक निर्माण को एक ऐसी निरंतर व जटिल प्रक्रिया के रूप में उजागर किया है जिसकी समय-समय पर समीक्षा होना आवश्यक है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने भारत का स्वतंत्रता आन्दोलन, सामान्य सांस्कृतिक धरोहर, समतावाद, लोकतंत्र, पर्यावरण संरक्षण तथा वैज्ञानिक नजरिए का विकास आदि महत्वपूर्ण मुद्दों को हमारी शिक्षा प्रणाली में प्रतिबिंबित होने की जरूरत को उजागर किया था। ऐसा समझा जाता है कि पाठ्यचर्या के अन्य संसाधनों में से पाठ्यपुस्तकों को तो कम से कम निश्चित रूप से ही हमारे संवैधानिक मूल्यों के ढांचों से मेल खाना ही चाहिए। शिक्षा आयोग (1964-66) ने भी यह सुझाव दिया था कि पाठ्यपुस्तकों की हर पांच साल में समीक्षा करके उन्हें बदला जाए। बहराल, ये शायद ही कभी होता है या केवल एनसीईआरटी में शायद ऐसा होता है।

यहां ये मानना पड़ेगा कि पाठ्यपुस्तकें विकसित करने का काम बहुत ही क्लिष्ट, लम्बा चलने वाला, विश्लेषणात्मक, कठिन और काफी समय लेने वाला प्रयास है। पाठ्यपुस्तकें संवैधानिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से मेल खाएं, राज्यों की परिस्थिति से मेल खाएं, विषयों की जरूरत को पूरा करें, बच्चों की विकासात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति करें, जैसी सभी जरूरी बातों का समावेश करना हो, तो यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि यह कार्य ऐसे समूह को सौंपा जाए जिसका गठन बहुत सावधानी से किया गया हो तथा जिसमें व्यापक रूप से भिन्न रुचियों व क्षमताओं वाले विशेषज्ञों का समावेश हो। इस समूह में ऐसे सदस्यों का समावेश होना चाहिए जिनकी अपनी विषयवस्तु पर अच्छी पकड़ हो और साथ ही बच्चों की विकासात्मक आवश्यकताओं की भी अच्छी समझ हो (दीवान व दिवेदी 2016)।

“बिना बोझ के सीखना” (“Learning without Burden”; MHRD 1993) नामक रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया गया है कि बड़ी तादाद में सुलझी हुई समझ वाले व नवाचार का प्रयोग करने वाले शिक्षकों को पुस्तक लेखन के लिए प्रशिक्षित करके उन्हें पुस्तक लेखन के कार्य में शामिल किया जाना चाहिए।

पाठ्यपुस्तकों पर बने केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (कैब) ने 2005 में आगाह किया था कि वर्तमान में पाठ्यचर्या संबंधी उपलब्ध विभिन्न प्रकार की सामग्री में शिक्षा को समृद्ध करने का सामर्थ्य जरूर है, किन्तु इसमें संविधान के उदार, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक सिद्धांतों से समझौता करने की संभावनाएं प्रतीत होती हैं। बोर्ड के इस सन्दर्भ में मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं: -

- i. पाठ्यचर्या से संबंधित साधन सामग्री की स्वीकृति प्रदान करने की प्रक्रिया में शिक्षा विशेषज्ञों द्वारा गंभीर रूप से साधन सामग्री का आकलन इस दृष्टि से होना चाहिए कि यह सामग्री संविधान में दिए मुख्य संवैधानिक मूल्यों से मेल खाती हो।
- ii. एक राष्ट्रीय पाठ्यपुस्तक परिषद् (एन.टी.सी) बनाई जाए, जो पाठ्यपुस्तकों के ऊपर कड़ी निगरानी रखे। यह समिति ऐसे किसी भी प्रकार के संस्थानों जो कि पाठ्यपुस्तकें निर्मित करने के कार्य से जुड़े रहे हों से मुक्त होनी चाहिए। यह समिति पुर्णतः स्वायत्त होनी चाहिए ताकि यह नागरिक समाज व शिक्षण जगत का सही मायने में प्रतिनिधित्व कर सके। यह एक प्रकार के फोरम की तरह भी कार्य कर सकती है, जहां आम नागरिक भी पाठ्यपुस्तकों संबंधी अपनी शिकायतें दर्ज करा सकें और इन शिकायतों पर जांच पड़ताल का काम यह परिषद् कर सके।
- iii. राष्ट्रीय पाठ्यपुस्तक परिषद् के मार्गदर्शन में एक स्थाई समिति का गठन हो। इस समिति को पाठ्यपुस्तकों की समय-समय पर समीक्षा के लिए मार्गदर्शन देने और इस हेतु मापदंड बनाने के लिए अधिकृत किया जाए। पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा में विशिष्ट आयु वर्ग के लिए उनकी उपयुक्तता, उनके स्तर व उनकी प्रासंगिकता के साथ-साथ किताबों की सामाजिक विषयवस्तु की भी जांच की जाए। ऐसी समीक्षाओं को सरकार को सौंपा जाए और इनका प्रचार-प्रसार मीडिया द्वारा व्यापक रूप से किया जाए।
- iv. एनसीईआरटी एवं समस्त राज्य शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषदों द्वारा ऐसी शैक्षणिक रूप से स्वायत्त इकाइयों का गठन किया जाए जो कि पाठ्यपुस्तकों पर अनुसंधान एवं मूल्यांकन के लिए पुर्णतः समर्पित हों। यह इकाइयां कैब की पाठ्यचर्या समीक्षा हेतु बनाई गई स्थाई कमिटी के साथ मिल कर काम कर सकती हैं। इस कार्य हेतु पूंजी मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय द्वारा आवंटित की जाए।
- v. विशिष्ट शिकायतों के निराकरण के लिए औपचारिक निकायों के गठन के साथ-साथ नागरिक समाज को इस ओर कदम दृढ करने के लिए अगुवाई करनी चाहिए तथा इस कार्य के लिए उपयुक्त मात्रा में पूंजी भी संस्थाओं को उपलब्ध करवाई जानी चाहिए, ताकि वे पाठ्यपुस्तकों की विषयवस्तु पर अनुसंधान कर सकें।

निष्कर्ष

भारतीय शिक्षा प्रणाली में पाठ्यपुस्तकों का विकास करना एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण कार्य है तथा यह बहुत अहमियत भी रखता है। बेशक, इसे कहने की अलग से आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि पाठ्यपुस्तकों के स्वरूप व उनकी विषयवस्तु पर कड़ी निगरानी रखने के लिए मजबूत व्यवस्था होना बहुत ही जरूरी है। एक बार पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के लिए निकायों द्वारा मापदंड व मार्ग दर्शिकाएं तय हो जाएं तथा इन्हें लागू करने के लिए निकाय स्थापित हो जाएं, फिर सभी पुस्तकों को इन मापदंडों के आधार पर पाबंद कर दिया जाए और जो भी पाठ्यपुस्तक इन मापदंडों का हनन करती हो उसे तुरंत प्रतिबंधित कर दिया जाए या उसे संशोधन के लिए भेज दिया जाए। यह प्रणाली सभी पाठ्यपुस्तकों पर लागू होनी चाहिए, चाहे वे निजी निकायों द्वारा बनाई गई हों या फिर केंद्र अथवा राज्य सरकार द्वारा निर्मित की गई हों। कैब ने जो कि भारत सरकार का सबसे उच्च शिक्षा सलाहकार मंडल है, पाठ्यपुस्तकों के नियमन एवं उपयोग से सम्बंधित सुझाव पहले ही दे दिए हैं। उन सुझावों पर शायद वर्तमान परिस्थितियों में पुनर्विचार कर बिना किसी विलम्ब उनका क्रियान्वयन हो जाना चाहिए।

ऐसी समितियों द्वारा दिए गए सुझावों/रिपोर्टों आदि पर गौर नहीं किया जाता या उन्हें अनदेखा किया जाता है तो उनका गठन करना निरर्थक हो जाता है। ऐसा न होने की स्थिति में उन सुझावों का इस्तेमाल केवल मेरे जैसे शोधकर्ता कभी-कभार पाठ्यपुस्तकों के निर्माण एवं निगरानी जैसे मुद्दों पर शोध पत्र लिखने के लिए करते हैं, और ये यहीं तक सिमित हो जाता है। ◆

भाषान्तर : एकलव्य नन्दवाना

(यह लेख 4 मार्च 2017 के ईपीडब्ल्यू से साभार)

लेखिका परिचय : टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुम्बई के स्कूल ऑफ एज्युकेशन में अध्यक्ष हैं। आरंभिक शिक्षा में एम.ए. कोर्स की समन्वयक हैं। शिक्षा के समाजशास्त्र, पाठ्यचर्या, शिक्षाशास्त्र और आकलन संबंधी मुद्दों में गहरी रुचि है। शिक्षा संबंधी विभिन्न मुद्दों पर तमाम पत्र-पत्रिकाओं में सतत लेखन।

संपर्क : dishanawani@yahoo.com

संदर्भ

1. C A B E (2005): Regulatory Mechanisms for Textbooks and Parallel Textbooks, Taught in Schools Outside the Government System, New Delhi: Committee of the Central Advisory Board of Education, MHRD, Government of India.
2. Dewan, H K and R Dwivedi (2016): "Development and Production of Textbooks: Some Insights," Teaching-Learning Resources for School Education, D Nawani, (ed), New Delhi: Sage Publications.
3. Goel, B S and J D Sharma (1984): A Study of Evolution of Textbooks, New Delhi: NCERT.
4. Goel, J P (2017): ICSE Economics Part I for Class IX, New Delhi: Goyal Brother Prakashan.
5. Government of India (1986): National Policy on Education, New Delhi: MHRD, GOI, <https://thewire.in/105146/maharashtra-sociologytextbook-blames-ugliness-dowry/> accessed on 15 February 2016.
6. MHRD (1993): Learning without Burden: Report of the National Advisory Committee, appointed by the MHRD: New Delhi.
7. Maharashtra State Board of Secondary and Higher Secondary Education (2016): Sociology Standard, XII, Maharashtra State Bureau of Textbook Production and Curriculum Research, Pune.
8. Nawani, D (2010): "School Textbooks: Understanding Frameworks for Analysis," Contemporary Education Dialogue, Vol 7: 2, pp 157-92.
9. NCERT (1966): Report of the Education Commission, 1964-66, New Delhi: NCERT.